Indian Journal of Modern Research and Reviews

This Journal is a member of the *'Committee on Publication Ethics'*

Online ISSN:2584-184X

Research Paper

भारत में न्यायिक सक्रियता: सैद्धांतिक एवं संवैधानिक विश्लेषण

डॉ. कर्मराज वर्मा

अतिथि संकाय, राजनीति विज्ञान विभाग, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर, राजस्थान

Corresponding Author: * डॉ. कर्मराज वर्मा

DOI: https://doi.org/10.5281/zenodo.15450611

सारांश

भारतीय लोकतंत्र में न्यायिक सक्रियता एक प्रभावशाली संवैधानिक प्रवृत्ति के रूप में उभरी है,जिसका उद्देश्य संविधान की मूल आत्मा की रक्षा और सामाजिक न्याय का विस्तार करना है। प्रस्तुत शोध आलेख न्यायिक सक्रियता की वैचारिक आधारशिला, संवैधानिक प्रावधानों तथा इससे संबंधित न्यायिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण करता है। इस आलेख में शक्ति पृथक्करण सिद्धांत, न्यायिक पुनरावलोकन की भूमिका, जनहित याचिका जैसे उपकरणों और आधारभूत ढाँचा जैसे न्यायिक नवाचारों का विश्लेषण करते हुए यह समझने का प्रयास किया गया है कि न्यायिक सक्रियता किस सीमा तक वैध, आवश्यक और प्रभावशाली है। यह शोध आलेख विश्लेषणात्मक प्रकृति का है। प्रमुख स्रोतों में भारतीय संविधान, उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के निर्णय, तथा प्रासंगिक अधिनियम शामिल हैं। सहायक स्रोतों में पुस्तकें, शोध आलेख, विधिक टीकाएं और ऑनलाइन डेटाबेस शामिल हैं।

Manuscript Info.

- ✓ **ISSN No:** 2584- 184X
- ✓ **Received:** 30-03-2025
- ✓ **Accepted:** 26-04-2025
- ✓ **Published:** 17-05-2025
- ✓ **MRR:3(5):**2025;30-37

- ✓ **©2025, All Rights Reserved.**

- ✓ **Peer Review Process:** Yes
- ✓ **Plagiarism Checked:** Yes

How To Cite

वर्मा क. भारत में न्यायिक सक्रियता: सैद्धांतिक एवं संवैधानिक विश्लेषण. Indian J Mod Res Rev. 2025;3(5):30–37.

मूल शब्द: न्यायिक सक्रियता, संविधान, मूल अधिकार, शक्ति पृथक्करण न्यायिक पुनरावलोकन, जनहित याचिका, आधारभूत ढाँचा सिद्धांत, लोकतंत्र, सामाजिक न्याय, स्वतंत्रता, समानता एवं बंधुत्व

1. परिचय

भारतीय लोकतंत्र की संरचना में न्यायपालिका एक ऐसा सांविधानिक स्तंभ है, जिसे स्वतंत्र, निष्पक्ष और सशक्त रूप में स्थापित किया गया है। इसका उद्देश्य केवल विवादों का समाधान करना नहीं, बल्कि संविधान की आत्मा की रक्षा करना, नागरिकों के मूल अधिकारों को संरक्षित करना और शासन की जवाबदेही सुनिश्चित करना है। न्यायपालिका की यह भूमिका समय के साथ और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई है, विशेषतः तब, जब विधायिका और कार्यपालिका संविधान के मूल उद्देश्यों की पूर्ति में असफल प्रतीत हुई हैं। ऐसे परिदृश्यों में न्यायपालिका ने 'न्यायिक सक्रियता' के माध्यम से हस्तक्षेप किया है, जो भारतीय संवैधानिक व्यवस्था की एक विशिष्ट विशेषता बन गई है।

न्यायिक सक्रियता का तात्पर्य है कि न्यायपालिका पारंपरिक सीमाओं से बाहर आकर कानूनों की उदार व्याख्या करे, शासन की निष्क्रियता की पूर्ति करे और सामाजिक अन्याय के विरुद्ध अपनी भूमिका निभाए। यह प्रवृत्ति भारत जैसे विशाल और विविधतापूर्ण देश में विशेष महत्व रखती है, जहाँ सामाजिक-आर्थिक विषमता, प्रशासनिक विफलताएँ और विधायी निष्क्रियता अनेक बार जनता के अधिकारों के हनन का कारण बनती रही है। भारतीय न्यायिक प्रणाली में न्यायिक सक्रियता का प्रारंभ 1970 और 1980 के दशक में हुआ, विशेषतः आपातकाल (1975-77) के पश्चात, जब न्यायपालिका ने अपनी स्वतंत्रता और गरिमा की पुनः स्थापना की। इस प्रक्रिया में उच्चतम न्यायालय तथा विभिन्न उच्च

© 2025 डॉ. कर्मराज वर्मा. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution 4.0 International License (CC BY NC ND).https://creativecommons.org/licenses/by/4.0/

न्यायालयों ने कई ऐतिहासिक निर्णय दिए, जिनसे यह स्पष्ट हुआ कि संविधान को केवल स्थिर दस्तावेज मानकर नहीं पढ़ा जा सकता, बल्कि उसे समय, समाज और नैतिक मूल्यों के अनुरूप जीवंत रूप में व्याख्यायित किया जाना चाहिए।

2. न्यायिक सक्रियता की वैचारिक आधारशिला

भारतीय न्यायपालिका की सक्रिय भूमिका केवल संवैधानिक दायित्व का परिणाम नहीं है, बल्कि यह एक सुदृढ़ वैचारिक और दार्शनिक आधार पर भी आधारित है। न्यायिक सक्रियता की अवधारणा आधुनिक विधिक सोच की उपज है, जिसका मूल उद्देश्य केवल विधि की अक्षरशः व्याख्या नहीं, बल्कि न्याय की आत्मा को समझकर उसे लागू करना है। यह धारणा लोकतंत्र, मानवाधिकार, विधिक उत्तरदायित्व और सामाजिक न्याय की मूलभूत आवश्यकताओं से प्रेरित है। न्यायिक सक्रियता का तात्पर्य न्यायपालिका की ऐसी भूमिका से है, जिसमें वह पारंपरिक विवाद-निपटान की सीमाओं से आगे बढ़कर संविधान की रक्षा, शासन की निगरानी और सामाजिक परिवर्तन की दिशा में हस्तक्षेप करती है। यह प्रवृत्ति उस स्थिति में विशेष रूप से सामने आती है जब कार्यपालिका या विधायिका नागरिकों के अधिकारों की सुरक्षा में विफल रहती है या सार्वजनिक हित की उपेक्षा करती है। ऐसे समय में न्यायपालिका न्याय के व्यापक उद्देश्य को सामने रखते हुए कानूनों और संवैधानिक प्रावधानों की उद्देश्यपूर्ण, प्रगतिशील और उदार व्याख्या करती है।

न्यायिक सक्रियता केवल विधिक व्याख्या का परिणाम नहीं है, बल्कि यह एक उत्तरदायी संवैधानिक व्यवहार है, जिसमें न्यायालय सामाजिक असमानताओं को दूर करने, शासन की निष्क्रियता की भरपाई करने और मूल अधिकारों की रक्षा के लिए सक्रिय रूप से हस्तक्षेप करता है। यह न्यायिक प्रक्रिया को मानव अधिकारों, सामाजिक न्याय और संवैधानिक नैतिकता से जोड़ता है। न्यायिक सक्रियता का स्वरूप अनेक रूपों में दिखाई देता है- जैसे कि मूल अधिकारों का विस्तार, जनहित याचिकाओं पर निर्णय, नीतिगत दिशा-निर्देश जारी करना तथा शासन के कार्यों की निगरानी करना। इसका मूल उद्देश्य न्यायपालिका को एक निष्क्रिय प्रेक्षक के बजाय संविधान का सक्रिय संरक्षक बनाना है। न्यायिक सक्रियता की जड़ें पश्चिमी लोकतंत्रों, विशेष रूप से अमेरिका में, वॉरेन कोर्ट (1953–1969) के समय पनपीं। उस काल में अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय ने नागरिक अधिकारों, नस्लीय समानता और सामाजिक सुधार की दिशा में महत्त्वपूर्ण सक्रिय भूमिका निभाई। भारत में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से आपातकाल के बाद प्रबल हुई, जब न्यायपालिका ने जनहित याचिका और आधारभूत ढाँचाके माध्यम से अपनी स्वायत्तता पुनः स्थापित की और शासन के असफल पक्षों में हस्तक्षेप करना आरंभ किया।न्यायिक सक्रियता की अवधारणा केवल संवैधानिक प्रावधानों तक सीमित नहीं है, बल्कि इसके पीछे एक सशक्त वैचारिक आधार भी निहित है, जो इसे औचित्य और वैधता प्रदान करता है। इस आधार में प्रमुख रूप से चार तत्व शामिल हैं- संवैधानिकता, कानून का शासन, सामाजिक न्याय और लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व। सबसे पहले, संवैधानिकता का सिद्धांत यह मानता है कि संविधान एक जीवित दस्तावेज़ है, जिसकी व्याख्या समय, समाज और परिस्थितियों के अनुसार की जानी चाहिए। इस दृष्टिकोण से न्यायिक सक्रियता एक ऐसा उपकरण बन जाता है, जिसके माध्यम से न्यायपालिका संविधान को सामाजिक परिवर्तन के लिए उपयोग करती है। दूसरा आधार है, कानून का शासन, जिसके अंतर्गत राज्य के सभी अंग और नागरिक संविधान के अधीन होते हैं। जब कार्यपालिका या विधायिका कानून से ऊपर उठकर कार्य करती है, तब न्यायपालिका सक्रिय होकर यह सुनिश्चित करती है कि सत्ता का कोई दुरुपयोग न हो और राज्य की सभी क्रियाएं संवैधानिक सीमाओं में रहें। तीसरे तत्व के रूप में सामाजिक न्याय आता है, जो विशेष रूप से भारत जैसे विषम और बहुस्तरीय समाज में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। न्यायिक सक्रियता के माध्यम से न्यायालय ने वंचित वर्गों, महिलाओं, श्रमिकों, बच्चों और पर्यावरण के संरक्षण के क्षेत्र में अनेक ऐतिहासिक निर्णय दिए हैं। अंततः, लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व भी न्यायिक सक्रियता को वैचारिक रूप से समर्थ बनाता है। जब निर्वाचित प्रतिनिधि अपने संवैधानिक कर्तव्यों का पालन करने में विफल होते हैं या अलोकतांत्रिक व्यवहार करते हैं, तब न्यायपालिका एक संतुलनकारी शक्ति के रूप में उभरती है। इस प्रकार, न्यायिक सक्रियता संविधान के उद्देश्यों की पूर्ति और नागरिकों के अधिकारों की सुरक्षा हेतु एक आवश्यक वैचारिक औजार बन चुकी है।

न्यायिक प्रणाली में न्यायिक सक्रियता और न्यायिक संयम दो परस्पर पूरक किन्तु भिन्न दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व करते हैं। न्यायिक संयम उस विचारधारा को दर्शाता है जिसमें न्यायालय अपनी भूमिका को सीमित और सावधानीपूर्वक परिभाषित रखता है, विशेषतः जब बात कार्यपालिका या विधायिका के अधिकार क्षेत्र की हो। यह दृष्टिकोण मानता है कि लोकतांत्रिक प्रक्रिया में चुनी हुई सरकारें जनहित के निर्णय लेने के लिए उत्तरदायी होती हैं और न्यायपालिका को उनके कार्यों में अनावश्यक हस्तक्षेप से बचना चाहिए। यह संवैधानिक मर्यादा, संस्थागत सम्मान और शक्ति के पृथक्करण के सिद्धांत को प्रमुखता देता है। इसके विपरीत, न्यायिक सक्रियता का दृष्टिकोण यह मानता है कि जब विधायिका या कार्यपालिका संविधान के प्रावधानों का पालन नहीं करती, या जब नागरिकों के मूल अधिकारों का उल्लंघन होता है, तब न्यायपालिका को हस्तक्षेप करके संविधान की रक्षा करनी चाहिए। यह प्रवृत्ति न्यायालय को एक जागरूक और उत्तरदायी संस्था के रूप में प्रस्तुत करती है, जो कानूनों की उदार व्याख्या कर समाज में सकारात्मक परिवर्तन ला सकती है। इस दृष्टिकोण में न्यायपालिका शासन की निष्क्रियता या असंवेदनशीलता की पूर्ति करती है और लोकतंत्र को अधिक उत्तरदायी बनाती है। दोनों दृष्टिकोणों के अपने-अपने गुण और सीमाएँ हैं। न्यायिक संयम संस्थागत संतुलन को बनाए रखने में सहायक होता है, जबकि न्यायिक सक्रियता सामाजिक न्याय और संवैधानिक नैतिकता को सशक्त करती है। भारत जैसे सामाजिक रूप से विविध और कभी-कभी शासकीय उदासीनता से ग्रस्त देश में, न्यायिक सक्रियता ने कई बार ऐसी परिस्थितियों में हस्तक्षेप किया है जहाँ विधायिका या कार्यपालिका की निष्क्रियता ने जनहित को हानि पहुँचाई। इसलिए, इन दोनों के बीच संतुलन बनाए रखना आवश्यक है, ताकि न्यायपालिका संविधान की रक्षा करते हुए भी अपनी सीमाओं के भीतर कार्य करे। न्यायिक सक्रियता की अवधारणा केवल विचारों तक सीमित नहीं है, बल्कि यह व्यवहार में अनेक रूपों में प्रकट होती है। भारतीय न्यायपालिका ने विभिन्न प्रसंगों में सक्रिय हस्तक्षेप कर यह दर्शाया है कि न्यायिक सक्रियता एक जीवंत और व्यावहारिक प्रक्रिया है, जो संविधान की उद्देशिका को वास्तविकता में बदलने का माध्यम बन सकती है। इसका पहला और प्रमुख रूपमूल अधिकारों के विस्तार में देखा गया है, विशेष रूप से अनुच्छेद 21 की व्याख्या में। 'प्राण और

© 2025 डॉ. कर्मराज वर्मा. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution 4.0 International License (CC BY NC ND).https://creativecommons.org/licenses/by/4.0/

दैहिक स्वतंत्रता' के अधिकार को व्यापक बनाते हुए न्यायालय ने इसमें स्वच्छ पर्यावरण, शिक्षा, स्वास्थ्य, आजीविका, गरिमा और गोपनीयता जैसे अधिकारों को सम्मिलित किया है। इस प्रकार, न्यायपालिका ने सामाजिक-आर्थिक अधिकारों को भी मौलिक अधिकारों की श्रेणी में लाकर उन्हें न्यायसंगत बनाया है।

दूसरा प्रमुख रूपजनहित याचिका के माध्यम से दिखाई देता है। जनहित याचिका ने न्याय तक पहुँच को लोकतांत्रिक बनाया है और ऐसे लोगों की आवाज़ को न्यायालय तक पहुँचाया है जो स्वयं याचिका दाखिल करने में असमर्थ थे। तीसरा रूप न्यायपालिका द्वारानीतिगत दिशा-निर्देशों के निर्धारण में सामने आया है। उदाहरणस्वरूप, विशाखा बनाम राजस्थान राज्य मामले में कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न की रोकथाम के लिए सुप्रीम कोर्ट ने अंतरिम दिशा-निर्देश जारी किए, क्योंकि विधायिका ने इस विषय में कानून बनाने में विलंब किया था।

इसके अतिरिक्त, न्यायिक निगरानीभी न्यायिक सक्रियता का एक प्रभावशाली रूप है, जिसमें न्यायालय किसी विशेष मामले में पारित आदेशों के क्रियान्वयन की स्वयं निगरानी करता है। पर्यावरण संरक्षण, भ्रष्टाचार नियंत्रण और मानवाधिकार के मामलों में उच्चतम न्यायलय और उच्च न्यायालयों ने समय-समय पर इस पद्धति को अपनाया है। इन सब रूपों के माध्यम से यह स्पष्ट होता है कि न्यायिक सक्रियता केवल न्यायालय की शक्ति का विस्तार नहीं है, बल्कि यह एक जिम्मेदार संवैधानिक आचरण है, जिसका लक्ष्य नागरिकों के अधिकारों की रक्षा और शासन को उत्तरदायी बनाना है।

इस प्रकार न्यायिक सक्रियता की वैचारिक आधारशिला एक उत्तरदायी, संवेदनशील और न्यायिक दृष्टिकोण पर आधारित है, जो भारतीय संविधान के मूल उद्देश्यों-न्याय, स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व की रक्षा सुनिश्चित करता है।

3. शक्ति पृथक्करण एवं न्यायिक सीमाएँ

लोकतंत्र की सफलता इस पर निर्भर करती है कि राज्य के विभिन्न अंग- विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका अपने-अपने अधिकार क्षेत्रों में काम करें और एक-दूसरे के कार्यों में अनावश्यक हस्तक्षेप न करें। इसी सिद्धांत को "शक्ति पृथक्करण" कहा जाता है। यह सिद्धांत सत्ता के केंद्रीकरण को रोककर लोकतांत्रिक संतुलन स्थापित करने का प्रयास करता है। भारतीय संविधान यद्यपि इस सिद्धांत को कठोर रूप में नहीं अपनाता, परंतु इसकी भावना संविधान की संरचना में अंतर्निहित है।

शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धांत सर्वप्रथम फ्रांसीसी विचारक मोंतेस्क्यू ने अपने ग्रंथ "द स्पिरिट ऑफ़ लॉज़" (1748) में प्रतिपादित किया। उनके अनुसार, यदि सभी शक्तियाँ- कानून बनाना (विधायिका), कानून लागू करना (कार्यपालिका), और कानून की व्याख्या करना (न्यायपालिका) एक ही संस्था के पास हों, तो यह तानाशाही का रूप ले सकती है। अतः सत्ता के संतुलन और नागरिक स्वतंत्रता की सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि ये तीनों कार्य स्वतंत्र रूप से संपन्न किए जाएँ।

भारतीय संविधान ने शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत को कठोर रूप में नहीं, बल्कि एकलचीले और व्यवहारिक रूपमें अपनाया है। संविधान निर्माताओं का दृष्टिकोण यह था कि भारत जैसे विशाल, विविधतापूर्ण और विकासशील देश में शासन के तीनों अंगों- विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच पूर्ण पृथक्करण संभव नहीं है और न ही व्यावहारिक। अतः संविधान ने इनके कर्तव्यों को स्पष्ट रूप से परिभाषित तो किया है, किंतु उनमें सहयोग, समन्वय और परस्पर नियंत्रण की व्यवस्था भी रखी है।

भारतीय संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों में शक्तियों के पृथक्करण की भावना निहित है।अनुच्छेद 50, जो राज्य के नीति निदेशक तत्वों में शामिल है, स्पष्ट रूप से राज्य को निर्देश देता है कि वह न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक करे। इसके अतिरिक्त, न्यायपालिका की स्वतंत्रताको सुरक्षित रखने के लिए संविधान में न्यायाधीशों की नियुक्ति, वेतन, सेवा शर्तें और कार्यकाल से संबंधित स्पष्ट प्रावधान हैं। यही नहीं, न्यायिक पुनरावलोकन की व्यवस्था भी इस सिद्धांत को मजबूती प्रदान करती है, क्योंकि यह सुनिश्चित करता है कि विधायिका और कार्यपालिका के कार्य संविधान की सीमाओं में रहें।

हालाँकि भारतीय संविधान अमेरिकी संविधान की तरह कठोर पृथक्करण का पक्षधर नहीं है, परंतु यह मानता है कि तीनों अंगों के बीच संतुलन और परस्पर सम्मान बना रहना आवश्यक है। इस दृष्टिकोण का सार यह है कि जबकि प्रत्येक अंग को अपने कार्यक्षेत्र में स्वतंत्रता है, फिर भी यदि कोई अंग संविधान की सीमाओं का उल्लंघन करता है, तो दूसरा अंग हस्तक्षेप कर सकता हैयही भारतीय संविधान की संतुलित संरचना को विशेष बनाता है। न्यायिक सक्रियता और शक्तियों के पृथक्करण सिद्धांत के बीच एक स्वाभाविक और संवैधानिक तनाव देखा जाता है। पृथक्करण का सिद्धांत यह निर्धारित करता है कि विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका को अपने-अपने अधिकार क्षेत्रों में रहकर कार्य करना चाहिए, जिससे लोकतांत्रिक संतुलन बना रहे और सत्ता का केंद्रीकरण न हो। लेकिन जब न्यायपालिका अपनी सक्रिय भूमिका में विधायिका या कार्यपालिका के कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप करती है, तब यह प्रश्न उठता है कि क्या यह हस्तक्षेप संविधान की मर्यादाओं का उल्लंघन है?

न्यायिक सक्रियता की आलोचना प्रायः इस आधार पर की जाती है कि वह न्यायपालिका को एक 'अतिसक्रिय' संस्था बना देती है, जो लोकतांत्रिक प्रक्रिया को बाधित कर सकती है। परंतु यह आलोचना तब महत्वहीन हो जाती है जब विधायिका या कार्यपालिका अपने संवैधानिक दायित्वों के निर्वहन में विफल रहती हैं। ऐसी स्थिति में न्यायपालिका, संविधान की रक्षा और नागरिकों के मूल अधिकारों की सुरक्षा के लिए हस्तक्षेप करती है। यह हस्तक्षेप असंवैधानिक नहीं बल्कि संविधान की आत्मा के अनुरूप होता है।

ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ न्यायपालिका ने कार्यपालिका की निष्क्रियता या विधायिका की चुप्पी के चलते हस्तक्षेप कर नीतिगत दिशा-निर्देश जारी किए। विशाखा बनाम राजस्थान राज्यमामला इसका स्पष्ट उदाहरण है, जहाँ सुप्रीम कोर्ट ने कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न की रोकथाम हेतु दिशा-निर्देश तब जारी किए जब संसद ने इस विषय पर कोई कानून नहीं बनाया था। ऐसे निर्णय न्यायिक सक्रियता के माध्यम से न्यायपालिका की संवैधानिक उत्तरदायित्व निभाने की प्रवृत्ति को उजागर करते हैं।

इस प्रकार, यद्यपि न्यायिक सक्रियता और शक्तियों के पृथक्करण के बीच टकराव की संभावना रहती है, फिर भी यह टकराव तब तक उचित माना जाता है जब तक न्यायपालिका संविधान की सीमाओं के भीतर रहते हुए निष्क्रिय शासन के स्थान पर सक्रिय न्याय को बढ़ावा देती है। इसलिए, यह आवश्यक है कि न्यायिक सक्रियता और संवैधानिक संतुलन के बीच एक विवेकपूर्ण संतुलन बना रहे, जिससे लोकतंत्र की आत्मा सुरक्षित रह सके।

© 2025 डॉ. कर्मराज वर्मा. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution 4.0 International License (CC BY NC ND).https://creativecommons.org/licenses/by/4.0/

न्यायिक सक्रियता के प्रभावी और स्वीकार्य बने रहने के लिए न्यायपालिका काआत्मनियंत्रणअत्यंत आवश्यक है। न्यायालय की सक्रिय भूमिका तभी सकारात्मक मानी जाती है जब वह संविधान की मर्यादा के भीतर रहकर न्याय प्रदान करे और अन्य अंगों के कार्यक्षेत्र में अनावश्यक हस्तक्षेप से बचे। यह आत्मनियंत्रण ही न्यायिक गरिमा और लोकतांत्रिक संस्थाओं के बीच संतुलन बनाए रखने का मूलभूत आधार है। भारतीय न्यायपालिका ने अनेक अवसरों पर यह सिद्ध किया है कि वह अपनी शक्तियों के प्रयोग में संयम और विवेक का पालन करती है।ऐसे कई निर्णय हैं जहाँ उच्चतम न्यायलय ने अपनी सीमाओं को पहचानते हुए स्पष्ट किया कि न्यायपालिका का कार्य नीति बनाना नहीं है, बल्कि यह देखना है कि बनाई गई नीतियाँ संविधान के अनुरूप हैं या नहीं। उदाहरणस्वरूप, पी. रामचंद्र राव बनाम कर्नाटक राज्य (2002) में सर्वोच्च न्यायालय ने यह टिप्पणी की कि न्यायालयों को न्यायिक विधायन से बचना चाहिए क्योंकि इससे शक्तियों के पृथक्करण का संतुलन प्रभावित हो सकता है। इसी प्रकार, इंदिरा नेहरू गांधी बनाम राजनारायण (1975) में न्यायपालिका ने यह सुनिश्चित किया कि न्यायिक स्वतंत्रता लोकतंत्र की आधारशिला है और उसे राजनीतिक हस्तक्षेप से मुक्त रहना चाहिए।

यह संतुलन न्यायपालिका को संविधान के संरक्षक के रूप में सशक्त बनाता है, परंतु उसे सर्वशक्तिमान नहीं बनाता। न्यायिक आत्मनियंत्रण के माध्यम से न्यायपालिका न केवल संस्थागत मर्यादा बनाए रखती है, बल्कि यह लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं और चुने हुए प्रतिनिधियों के निर्णयों का भी सम्मान करती है। इस प्रकार, न्यायिक सक्रियता और आत्मनियंत्रण का यह संयोजन भारतीय लोकतंत्र को स्थायित्व प्रदान करता है और संविधान की भावना को जीवंत बनाए रखता है।

भारतीय लोकतंत्र की सफलता इस सिद्धांत पर आधारित है कि राज्य के तीनों अंग-विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिकाएक-दूसरे की शक्तियों पर नियंत्रण और संतुलन बनाए रखें। भारतीय संविधान ने एक ऐसाव्यवहारिक ढाँचानिर्मित किया है जिसमें ये तीनों अंग पूर्णतः स्वतंत्र तो हैं, परंतु पूरी तरह से पृथक नहीं हैं। उनके बीच परस्पर निर्भरता और उत्तरदायित्व की एक ऐसी व्यवस्था है, जो शासन को पारदर्शी, उत्तरदायी और संविधान के अनुरूप बनाए रखती है।इस संतुलन की प्रमुख अभिव्यक्ति न्यायपालिका के पुनरावलोकन अधिकार में देखी जा सकती है, जिसके माध्यम से वह विधायिका और कार्यपालिका के कार्यों की संवैधानिकता की समीक्षा करती है। दूसरी ओर, विधायिका के पास न्यायाधीशों के महाभियोग का अधिकार होता है, जिससे वह न्यायपालिका की जवाबदेही सुनिश्चित कर सकती है। इसी प्रकार, कार्यपालिका की भूमिकाभी न्यायपालिका से जुड़ी होती है, जैसे न्यायाधीशों की नियुक्ति में भागीदारी (कॉलेजियम प्रणाली के तहत) और प्रशासनिक संसाधनों की उपलब्धता सुनिश्चित करना।

यह प्रणाली इस बात को सुनिश्चित करती है कि कोई भी अंग निरंकुश न बने और सभी संस्थाएँ संविधान के भीतर रहकर कार्य करें। व्यवहार में जब कार्यपालिका निष्क्रिय रहती है या विधायिका विलंब करती है, तब न्यायपालिका आगे आकर लोकतंत्र की रक्षा करती है। वहीं, जब न्यायपालिका सीमा लांघने लगे, तब लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व के अन्य माध्यमों से उसे संतुलित किया जा सकता है। इस प्रकार, जाँच और संतुलन की यह प्रणाली न केवल शासन की विश्वसनीयता को बनाए रखती है, बल्कि यह नागरिकों के अधिकारों और संविधान की आत्मा की रक्षा भी सुनिश्चित करती है।

4. न्यायिक पुनरावलोकन: सक्रियता का संवैधानिक औचित्य

भारतीय लोकतंत्र में न्यायिक सक्रियता की संवैधानिक वैधता और सैद्धांतिक औचित्य का सबसे सशक्त आधार न्यायिक पुनरावलोकन है। यह वह संवैधानिक शक्ति है जिसके माध्यम से न्यायपालिका विधायिका और कार्यपालिका के कार्यों की समीक्षा करती है और यह सुनिश्चित करती है कि वे संविधान की सीमाओं के भीतर कार्य कर रहे हैं या नहीं। न्यायिक पुनरावलोकन का उद्देश्य संविधान की सर्वोच्चता, मूल अधिकारों की रक्षा और शासन की विधिक मर्यादा बनाए रखना है। यह सिद्धांत न्यायपालिका को शासन के अन्य अंगों पर निगरानी रखने का साधन प्रदान करता है और जब वे अपने संवैधानिक कर्तव्यों का उल्लंघन करते हैं, तो न्यायपालिका उन्हें रोक सकती है।

भारतीय संविधान में न्यायिक पुनरावलोकन की स्पष्ट नींव रखी गई है। अनुच्छेद 13 यह घोषित करता है कि कोई भी ऐसा कानून जो मूल अधिकारों के विरुद्ध है, वह शून्य माना जाएगा। इसी प्रकार, अनुच्छेद 32 और 226 उच्चतम न्यायलय और उच्च न्यायालयों को यह शक्ति प्रदान करते हैं कि वे रिट जारी कर नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करें। अनुच्छेद 141 न्यायपालिका के निर्णयों को सभी न्यायालयों के लिए बाध्यकारी बनाता है, जबकि अनुच्छेद 245 और 246 विधायिका की सीमाओं को परिभाषित करते हैं। इन प्रावधानों से यह स्पष्ट होता है कि न्यायिक पुनरावलोकन न केवल स्वीकार्य है, बल्कि संवैधानिक रूप से आवश्यक भी है।

न्यायिक सक्रियता और पुनरावलोकन का संबंध व्यवहार में अनेक ऐतिहासिक निर्णयों के माध्यम से देखा जा सकता है। उदाहरणस्वरूप, मिनर्वा मिल्स बनाम भारत संघ (1980) में सर्वोच्च न्यायालय ने यह स्पष्ट किया कि न्यायिक पुनरावलोकन संविधान की आधारभूत ढाँचे का हिस्सा है और इसे समाप्त नहीं किया जा सकता। एस. आर. बोम्मई केस (1994)में राष्ट्रपति शासन की न्यायिक समीक्षा को अनुमति दी गई, जबकि आई.आर. कोएल्हो बनाम तमिलनाडु राज्य (2007)में यह घोषित किया गया कि नौवीं अनुसूची में सम्मिलित कानून भी यदि आधारभूत ढाँचे का उल्लंघन करते हैं, तो वे न्यायिक समीक्षा के अधीन हैं।

न्यायिक पुनरावलोकन न केवल न्यायपालिका की शक्ति है, बल्कि उसका कर्तव्य भी है। यह उस समय और अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है जब शासन के अन्य अंग अपनी सीमाओं से बाहर जाकर कार्य करते हैं, या नागरिक अधिकारों की अनदेखी करते हैं। पुनरावलोकन के माध्यम से न्यायपालिका संविधान के संरक्षक के रूप में कार्य करती है, जिससे न्यायिक सक्रियता को औचित्य और नैतिक बल प्राप्त होता है। इस प्रकार, न्यायिक पुनरावलोकन न केवल संवैधानिक रूप से वैध है, बल्कि लोकतांत्रिक शासन में एक आवश्यक उपकरण भी है, जो न्याय, उत्तरदायित्व और विधिक शासन को सुनिश्चित करता है।

5. जनहित याचिका- न्यायिक सक्रियता का उपकरण

जनहित याचिका भारतीय न्यायिक सक्रियता की सबसे सशक्त और प्रभावशाली अभिव्यक्ति के रूप में उभरी है। यह एक ऐसी विधिक प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से कोई भी नागरिकचाहे वह प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित न होसमाज के वंचित, शोषित या असहाय वर्गों के अधिकारों की रक्षा हेतु न्यायालय का द्वार खटखटा सकता है। जनहित याचिका का मूल उद्देश्य न्याय को सुलभ और सर्वसुलभ बनाना है, विशेषतः उन लोगों के लिए जो स्वयं न्यायालय नहीं पहुँच सकते। यह तंत्र

© 2025 डॉ. कर्मराज वर्मा. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution 4.0 International License (CC BY NC ND).https://creativecommons.org/licenses/by/4.0/

न्यायपालिका को लोकहित के मामलों में हस्तक्षेप करने की अनुमति देता है और उसे एक सामाजिक न्यायदाता की भूमिका प्रदान करता है।

भारतीय संविधान में जनहित याचिकाका स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं है, किंतु यहअनुच्छेद32 (उच्चतम न्यायलय में याचिका) और अनुच्छेद 226 (उच्च न्यायालयों में रिट अधिकार) से उत्पन्न हुआ है। 1970 और 1980 के दशकों में न्यायमूर्ति पी.एन. भगवती और वी.आर. कृष्ण अय्यर जैसे प्रगतिशील न्यायाधीशों ने इस अवधारणा को संवैधानिक व्याख्या द्वारा विकसित किया। जनहित याचिका की खास बात यह है कि इसमें लोकस स्टैंडी (याचिका दाखिल करने की पात्रता) की परंपरागत बाध्यता को समाप्त कर दिया गया और सामान्य जन को भी जनहित के मुद्दों पर न्यायालय में याचिका दायर करने की अनुमति दी गई।

व्यवहार में जनहित याचिका ने कई महत्वपूर्ण क्षेत्रों को प्रभावित किया है, जैसे पर्यावरण संरक्षण, कारावास में बंद कैदियों के अधिकार, महिला और बाल अधिकार, श्रमिक कल्याण, भ्रष्टाचार, सार्वजनिक स्वास्थ्य और शिक्षा। हुसैन आरा खातून बनाम बिहार राज्य में कैदियों को शीघ्र सुनवाई और निशुल्क विधिक सहायता का अधिकार मिला। एमसी मेहता बनाम भारत संघमें गंगा प्रदूषण और ओलियम गैस रिसाव जैसे पर्यावरणीय मामलों में न्यायिक हस्तक्षेप हुआ।विशाखा बनाम राजस्थान राज्यमें सुप्रीम कोर्ट ने कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न रोकने हेतु दिशा-निर्देश जारी किए, जब तक कि संसद ने विधि नहीं बना दी।

जनहित याचिका के माध्यम से न्यायपालिका ने शासन की निष्क्रियता, सामाजिक अन्याय और संस्थागत भ्रष्टाचार के विरुद्ध एक प्रभावशाली औजार के रूप में कार्य किया है। यह न केवल नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करता है, बल्कि प्रशासन को जवाबदेह भी बनाता है। हालांकि जनहित याचिका का दुरुपयोग भी देखा गया है, जैसे राजनीतिक लाभ या व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए दायर की गई याचिकाएँ। इसलिए उच्चतम न्यायलय ने यह स्पष्ट किया है कि जनहित याचिकाका उद्देश्य न्याय का लोकतंत्रीकरण है और इसे केवल गंभीर सार्वजनिक हितों में ही स्वीकार किया जाना चाहिए।

इस प्रकार, जनहित याचिका ने न्यायिक सक्रियता को धरातल पर स्थापित किया है और भारतीय न्याय व्यवस्था को जनोन्मुखी बनाने में निर्णायक भूमिका निभाई है। यह एक ऐसा माध्यम है, जिसके द्वारा संविधान की उद्देशिका में निहित 'न्याय, स्वतंत्रता और समानता' को यथार्थ का रूप दिया जा सकता है।

6. आधारभूत ढाँचा और न्यायिक सृजनशीलता

भारतीय संविधान की सुरक्षा और स्थायित्व सुनिश्चित करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय द्वारा विकसित किया गया आधारभूत ढाँचा न्यायिक सक्रियता और न्यायिक सृजनशीलता का उत्कृष्ट उदाहरण है। इस सिद्धांत की उत्पत्ति उच्चतम न्यायलय के ऐतिहासिक निर्णय के सवानंद भारती बनाम केरल राज्य (1973) में हुई, जिसमें यह घोषित किया गया कि संसद को संविधान संशोधन का अधिकार है, लेकिन वह संविधान की "मूल संरचना" को परिवर्तित या नष्ट नहीं कर सकती। यह निर्णय भारतीय लोकतंत्र की संवैधानिक मर्यादा की रक्षा के लिए एक निर्णायक मोड़ साबित हुआ और न्यायपालिका को संविधान के संरक्षक के रूप में अधिक अधिकारसंपन्न बना दिया।

आधारभूत ढाँचा सिद्धांत ने उन मूलभूत तत्वों को चिन्हित किया है, जिन्हें संविधान की आत्मा के रूप में देखा जाता है, जैसे कि लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता, न्यायिक स्वतंत्रता, कानून का शासन, संघीय व्यवस्था, मौलिक अधिकार और न्यायिक पुनरावलोकन। ये तत्व भारतीय संविधान की पहचान हैं और इन्हें समाप्त करना या विकृत करना संविधान के मूल उद्देश्य के साथ विश्वासघात के समान माना गया है। इस सिद्धांत के आधार पर सुप्रीम कोर्ट ने समय-समय पर संसद द्वारा लाए गए कई संशोधनों की समीक्षा की और आवश्यकतानुसार उन्हें असंवैधानिक घोषित किया।

न्यायिक सृजनशीलता का वास्तविक रूप इसी सिद्धांत में परिलक्षित होता है। यह दिखाता है कि न्यायपालिका केवल संविधान की व्याख्या करने वाली संस्था नहीं है, बल्कि जब आवश्यक हो तो वह संवैधानिक दर्शन को पुनः परिभाषित भी कर सकती है। इंदिरा नेहरू गांधी बनाम राजनारायण, मिनर्वा मिल्स बनाम भारत संघ, एस. आर. बोम्मई और आई. आर. कोएल्हो जैसे मामलों में सुप्रीम कोर्ट ने यह सिद्ध किया कि संविधान की मूल संरचना के विरुद्ध कोई भी संशोधन या विधायी प्रयास अमान्य होगा, चाहे उसे कितनी भी राजनीतिक मान्यता प्राप्त हो।

इसके अतिरिक्त, न्यायालय ने कई सामाजिक अधिकारों को मूल अधिकारों का हिस्सा बनाकर न्यायिक सृजनशीलता का परिचय दिया है। जैसे कि पुट्टास्वामी बनाम भारत संघ (2017) में निजता का अधिकार, उन्नीकृष्णन मामला में शिक्षा का अधिकार, और पर्यावरण से संबंधित मामलों में स्वच्छ वातावरण का अधिकार, सब अनुच्छेद 21 के व्यापक दायरे में सम्मिलित किए गए। यह रचनात्मक व्याख्या न्यायपालिका की संवेदनशीलता और समयानुकूल दृष्टिकोण को दर्शाती है।

हालाँकि आधारभूत ढाँचा सिद्धांत की आलोचना भी होती रही है कि यह न्यायपालिका को असीमित शक्ति देता है और संसदीय संप्रभुता को सीमित करता है। किंतु भारतीय संवैधानिक ढाँचे में संविधान सर्वोच्च है, न कि संसद। अतः न्यायपालिका की यह भूमिका संविधान की आत्मा की रक्षा करने वाली है, न कि लोकतांत्रिक प्रक्रिया के विरुद्ध। आधारभूत ढाँचा सिद्धांत एक प्रकार से न्यायपालिका का आत्मनियंत्रण भी है, जिससे वह केवल उन्हीं मामलों में हस्तक्षेप करती है, जहाँ संविधान की आधारभूत संरचना को क्षति पहुँचने की आशंका होती है।

इस प्रकार, आधारभूत ढाँचासिद्धांत न केवल भारतीय न्यायिक सक्रियता की वैधानिकता को सुदृढ़ करता है, बल्कि यह न्यायपालिका की रचनात्मक और उत्तरदायी भूमिका को भी उजागर करता है। यह सिद्धांत संविधान को एक स्थायी, सजीव और समावेशी दस्तावेज़ बनाए रखने में निर्णायक भूमिका निभाता है और भारत के लोकतंत्र को स्थायित्व प्रदान करता है।

7. निष्कर्ष

भारतीय न्यायपालिका की सक्रिय भूमिका ने यह सिद्ध कर दिया है कि संविधान केवल एक विधिक दस्तावेज नहीं, बल्कि एक जीवंत समाज का मार्गदर्शक दर्शन है। न्यायिक सक्रियता इसी दर्शन को व्यवहार में परिणत करने का प्रयास है। यह न्यायपालिका को एक निष्क्रिय दर्शक के स्थान पर एक उत्तरदायी संरक्षक बनाती है, जो नागरिकों के अधिकारों, शासन की नैतिकता और संविधान की आत्मा की रक्षा करता है। जनहित याचिका, आधारभूत ढाँचा सिद्धांत और न्यायिक पुनरावलोकन जैसे तंत्रों ने यह सुनिश्चित किया है कि न्याय केवल वाद-प्रतिवाद तक सीमित न रहकर जनकल्याण के वास्तविक माध्यम में रूपांतरित हो।

© 2025 डॉ. कर्मराज वर्मा. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution 4.0 International License (CC BY NC ND).https://creativecommons.org/licenses/by/4.0/

फिर भी, न्यायिक सक्रियता की प्रभावशीलता उसी स्थिति में दीर्घकालिक और जनहितकारी सिद्ध हो सकती है जब वह आत्मनियंत्रण, विवेक और मर्यादा के साथ प्रयोग में लाई जाए। न्यायपालिका यदि विधायिका और कार्यपालिका के अधिकार क्षेत्रों में अति-हस्तक्षेप करती है, तो वह लोकतांत्रिक संतुलन को बाधित कर सकती है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि न्यायिक सक्रियता को 'संवैधानिक विवेक' के साथ जोड़ा जाए न कि 'संस्थागत प्रतिस्पर्धा' के साथ।

अंततः यह कहा जा सकता है कि न्यायिक सक्रियता भारतीय लोकतंत्र की एक अभिन्न और सशक्त संवैधानिक परंपरा है, जो न केवल वर्तमान सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है, बल्कि भविष्य के लिए भी एक न्यायसंगत और उत्तरदायी शासन व्यवस्था की नींव रखती है। यह संविधान के 'न्याय, स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व' जैसे आदर्शों को केवल सैद्धांतिक घोषणाओं तक सीमित नहीं रहने देती, बल्कि उन्हें जीवन्त सामाजिक यथार्थ में परिवर्तित करने की दिशा में निर्णायक भूमिका निभाती

संदर्भ

1. ऑस्टिन जी. वर्किंग ए डेमोक्रेटिक कॉन्स्टिट्यूशन: द इंडियन एक्सपीरियंस. नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस; 1999.
2. कश्यप एससी. आवर कॉन्स्टिट्यूशन: एन इंट्रोडक्शन टू इंडिया'स कॉन्स्टिट्यूशन एंड कॉन्स्टिट्यूशनल लॉ. नई दिल्ली: नेशनल बुक ट्रस्ट; 2010.
3. खोसला एम. इंडियन सुप्रीम कोर्ट में जुडिशियल एक्टिविज़्म पर विचार: एक परिपक्व बहस की ओर. हैस्टिंग्स इंटरनेशनल एंड कम्पेरेटिव लॉ रिव्यू. 2009;32(1):55–100.
4. जैन एमपी. इंडियन कॉन्स्टिट्यूशनल लॉ. 8वां संस्करण. हरियाणा: लेक्सिसनेक्सिस; 2018.
5. नूरानी एजी. कॉन्स्टिट्यूशनल क्वेश्चन्स एंड सिटिज़न्स' राइट्स. नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस; 2000.
6. पांडेय जेएन. कॉन्स्टिट्यूशनल लॉ ऑफ इंडिया. 55वां संस्करण. इलाहाबाद: सेंट्रल लॉ एजेंसी; 2022.
7. पाठक वी. जुडिशियल एक्टिविज़्म एंड इंडियन डेमोक्रेसी. जयपुर: एबीडी पब्लिशर्स; 2015.
8. बक्सी यू. द क्राइसिस ऑफ द इंडियन लीगल सिस्टम. नई दिल्ली: विकास पब्लिशिंग; 1982.
9. बक्सी यू. सुप्रीम कोर्ट अंडर ट्रायल: अंडरट्रायल राइट्स. इंडिया इंटरनेशनल सेंटर क्वार्टरली. 1985;12(2):25–38.
10. बासु डीडी. इंट्रोडक्शन टू द कॉन्स्टिट्यूशन ऑफ इंडिया. 21वां संस्करण. गुरुग्राम: लेक्सिसनेक्सिस; 2013.
11. भगवती पीएन. जुडिशियल एक्टिविज़्म एंड पब्लिक इंटरेस्ट लिटिगेशन. नई दिल्ली: यूनिवर्सल लॉ पब्लिशिंग; 2004.
12. भारत सरकार. भारत का संविधान. नई दिल्ली: विधि और न्याय मंत्रालय, विधि विभाग; 2024.
13. भुवानिया ए. भारतीय सुप्रीम कोर्ट में जनहित याचिका: अतीत, वर्तमान और भविष्य. साउथ एशिया: जर्नल ऑफ साउथ एशियन स्टडीज़. 2014;37(3):398–418. https://doi.org/10.1080/00856401.2014.951536
14. राजगोपाल बी. मानवाधिकार समर्थक लेकिन गरीब विरोधी? भारतीय सुप्रीम कोर्ट का सामाजिक आंदोलन दृष्टिकोण से आलोचनात्मक मूल्यांकन. ह्यूमन राइट्स रिव्यू. 2007;8(3):157–185.
15. शंकर एस, मेहता पीबी. इंडिया'स जुडिशियरी: द प्रॉमिस ऑफ जस्टिस. नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस; 2010.
16. साठे एसपी. जुडिशियल एक्टिविज़्म: द इंडियन एक्सपीरियंस. वॉशिंगटन यूनिवर्सिटी जर्नल ऑफ लॉ एंड पॉलिसी. 2001;6:29–61.
17. श्रीधरन ई. भारत में न्यायिक सक्रियता और लोकतंत्र. जर्नल ऑफ डेमोक्रेसी. 2008;19(2):134–147.

Creative Commons (CC) License
This article is an open access article distributed under the terms and conditions of the Creative Commons Attribution (CC BY 4.0) license. This license permits unrestricted use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original author and source are credited.

© 2025 डॉ. कर्मराज वर्मा. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution 4.0 International License (CC BY NC ND).https://creativecommons.org/licenses/by/4.0/